चक्र देखिये—

रा	२	अश्विनी	अ आ
ज्य	१	भरणी	इ
ला	३	कृत्तिका	ई उ ऊ
भो	४	रोहिणी	ऋ ॠ ऌ ॡ
ष	१	मृगशिरा	ए
का	१	आर्द्रा	ऐ
रा	२	पुनर्वसु	ओ औ
य	१	पुष्य	क
प्रा	२	आश्लेषा	ख ग
र	२	मघा	घ ङ
प्या	१	पूर्वाफाल्गुनी	च
रिः	२	उत्तराफाल्गुनी	छ ज
स्व	२	हस्त	झ ञ
रः	२	चित्रा	ट ठ
कु	१	स्वाती	ड
रून्	२	विशाखा	ढ ण
गो	३	अनुराधा	त थ द
पा	१	ज्येष्ठा	ध
लान्	३	मूल	न प फ
कु	१	पूर्वाषाढ़ा	ब
कु	१	उत्तराषाढ़ा	भ
टी	१	श्रवण	म
प्रा	२	धनिष्ठा	य र
यान्	१	शतभिषा	ल
फु	२	पूर्वभाद्रपदा	व श
ल्लौ	३	उत्तरभाद्रपदा	ष स ह

यह वर्णमाला नक्षत्रोंके साथ क्रमशः जोड़नी चाहिये। केवल 'अं अः'—ये दो अन्तिम स्वर रेवती नक्षत्रके साथ सदा जुड़े रहते हैं[1]॥ १०-११ ½ ॥

(इनके द्वारा जन्म, सम्पद्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र तथा अतिमित्र—इन तारोंका विचार किया जाता है। जहाँ साधकके नामका आदि अक्षर है, वहाँसे लेकर मन्त्रके आदि अक्षरतक गिने। उसमें नौका भाग देकर शेषके अनुसार जन्मादि तारोंको जाने।)

(बारह राशियोंमें वर्णोंका विभाजन)

वालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति भेदिताः।
लिप्यर्णा राशिषु ज्ञेयाः षष्ठे शार्दीश्च योजयेत्॥ १२॥

(जैसा कि पूर्व श्लोकमें संकेत किया है, उसी तरह 'वा'से लेकर 'भा' तकके बारह अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियों तथा ४ आदि संख्याओंकी ओर संकेत करते हैं—) वा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ भा ४। इन संख्याओंमें विभक्त हुए अकार आदि अक्षर क्रमशः मेष आदि राशियोंमें स्थित जानने चाहिये। 'श ष स ह' इन अक्षरोंको (तथा स्वरान्त्य वर्णों 'अं अः'को) छठी कन्याराशिमें संयुक्त करना चाहिये[2]। क्षकारका मीनराशिमें प्रवेश है[3]। यथा—

४	अ आ इ ई	मेषराशि	१
३	उ ऊ ऋ	वृषराशि	२
३	ॠ ऌ ॡ	मिथुनराशि	३
२	ए ऐ	कर्कराशि	४
२	ओ औ	सिंहराशि	५
२	अं अः		
	(श ष स ह ल)	कन्याराशि	६
५	क ख ग घ ङ	तुलाराशि	७
५	च छ ज झ ञ	वृश्चिकराशि	८
५	ट ठ ड ढ ण	धनुराशि	९
५	त थ द ध न	मकरराशि	१०
५	प फ ब भ म	कुम्भराशि	११
४	य र ल व (क्ष)	मीनराशि	१२

१. 'शारदातिलक'में भी यही बात कही गयी है—

'स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ सदा'॥ (२। १२५)

२. 'शारदातिलक' २। १२७ में यह श्लोक कुछ पाठान्तरके साथ ऐसा ही है। उसकी संस्कृत व्याख्यामें यही भाव व्यक्त किया गया है।

३. जैसा कि आचार्योंने कहा है—'अमः शवर्गलेभ्यश्च संजाता कन्यका मता।' तथा—'चतुर्भिर्यादिभिः सार्धं स्यात् क्षकारस्तु मीनगः।'

राशि-ज्ञानका उपयोग—साधकके नामका आदि अक्षर जहाँ हो, उस राशिसे मन्त्रके आदि अक्षरकी राशितक गिने। जो संख्या हो, उसके अनुसार फल जाने। यदि संख्या छठी, आठवीं अथवा बारहवीं हो तो वह निन्द्य है। इन बारह संख्याओंको 'बारह भाव' कहते हैं। उनकी विशेष संख्यासंज्ञा इस प्रकार है—तन, धन, सहज, सुहृद्, पुत्र, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय। मन्त्रके अक्षर यदि मृत्यु, शत्रु तथा व्यय भावके अन्तर्गत हैं तो वे अशुभ हैं।

(सिद्धादि मन्त्र-शोधन-प्रकार)

अ क थ ह	आ ख द क्ष	इ ग ध	ई घ न
उ ङ प	ऊ च फ	ऋ छ ब	ॠ ज भ
ऌ ञ म	ॡ ञ य	ए ट र	ऐ ठ ल
ओ ड व	औ ढ श	अं ण ष	अः त स

चौकोर स्थानपर पाँच रेखाएँ पूर्वसे पश्चिमकी ओर तथा पाँच रेखाएँ उत्तरसे दक्षिणकी ओर खींचे। इस प्रकार सोलह कोष्ठ बनाये। इनमें क्रमशः सोलह स्वरोंको लिखा जाय। तदनन्तर उसी क्रमसे व्यञ्जन-वर्ण भी लिखे। तीन आवृत्ति पूर्ण होनेपर चौथी आवृत्तिमें प्रथम दो कोष्ठोंके भीतर क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखकर सब अक्षरोंकी पूर्ति कर ले। इन सोलहमें प्रथम कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सिद्ध', दूसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'साध्य', तीसरे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'सुसिद्ध' तथा चौथे कोष्ठकी चार पङ्क्तियाँ 'अरि' मानी गयी हैं। जिस साधकके नामका आदि अक्षर जिस चतुष्कमें पड़े, वही उसके लिये 'सिद्ध चतुष्क' है, वहाँसे दूसरा उसके लिये 'साध्य', तीसरा 'सुसाध्य' और चौथा चतुष्क 'अरि' है। जिस चतुष्कके जिस कोष्ठमें साधकका नाम है, वह उसके लिये 'सिद्ध-सिद्ध' कोष्ठ है। फिर प्रदक्षिणक्रमसे उस चतुष्कका दूसरा कोष्ठ 'सिद्धसाध्य', 'सिद्ध-सुसिद्ध' तथा 'सिद्ध-अरि' है। इसी चतुष्कमें यदि मन्त्रका भी आदि अक्षर हो तो इसी गणनाके अनुसार उसके भी 'सिद्ध-सिद्ध', 'सिद्ध-साध्य' आदि भेद जान लेने चाहिये। यदि इस चतुष्कमें अपने नामका आदि अक्षर हो और द्वितीय चतुष्कमें मन्त्रका आदि अक्षर हो तो पूर्व चतुष्कके जिस कोष्ठमें नामका आदि अक्षर है, उस दूसरे चतुष्कमें भी उसी कोष्ठसे लेकर प्रादक्षिण्य-क्रमसे 'साध्यसिद्ध' आदि भेदकी कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार सिद्धादिकी कल्पना करे। सिद्ध-मन्त्र अत्यन्त गुणोंसे युक्त होता है। 'सिद्ध-मन्त्र' जपमात्रसे सिद्ध अर्थात् सिद्धिदायक होता है; 'साध्य-मन्त्र' जप, पूजा और होम आदिसे सिद्ध होता है। 'सुसिद्ध मन्त्र' चिन्तनमात्रसे सिद्ध हो जाता है, परंतु 'अरि मन्त्र' साधकका नाश कर देता है। जिस मन्त्रमें दुष्ट अक्षरोंकी संख्या अधिक हो, उसकी सभीने निन्दा की है॥ १३—१५॥

शिष्यको चाहिये कि वह अभिषेकपर्यन्त दीक्षामें विधिवत् प्रवेश लेकर गुरुके मुखसे तन्त्रोक्त विधिका श्रवण करके गुरुसे प्राप्त हुए अभीष्ट मन्त्रकी साधना करे। जो धीर, दक्ष, पवित्र, भक्तिभावसे सम्पन्न, जप-ध्यान आदिमें तत्पर रहनेवाला, सिद्ध, तपस्वी, कुशल, तन्त्रवेत्ता, सत्यवादी तथा निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ हो, वह 'गुरु' कहलाता है। जो शान्त (मनको वशमें रखनेवाला), दान्त (जितेन्द्रिय), पटु (सामर्थ्यवान्), ब्रह्मचारी, हविष्यान्नभोजी, गुरुकी सेवामें संलग्न और मन्त्रसिद्धिके प्रति उत्साह रखनेवाला हो, वह 'योग्य' शिष्य है। उसको तथा अपने पुत्रको मन्त्रका उपदेश देना चाहिये। शिष्य विनयी तथा गुरुको धन देनेवाला हो। ऐसे शिष्यको गुरु मन्त्रका उपदेश दे और उसकी सुसिद्धिके लिये

स्वयं भी एक सहस्रकी संख्यामें जप करे। अकस्मात् कहींसे सुना हुआ, छल अथवा बलसे प्राप्त किया हुआ, पुस्तकके पन्नेमें लिखा हुआ अथवा गाथामें कहा गया मन्त्र नहीं जपना चाहिये। यदि ऐसे मन्त्रका जप किया जाय तो वह अनर्थ उत्पन्न करता है। जो जप, होम तथा अर्चना आदि भूरि क्रियाओंद्वारा मन्त्रकी साधनामें संलग्न रहता है, उसके मन्त्र स्वल्पकालिक साधनसे ही सिद्ध हो जाते हैं। जिसने एक मन्त्रको भी विधिपूर्वक सिद्ध कर लिया है, उसके लिये इस लोकमें कुछ भी असाध्य नहीं है; फिर जिसने बहुत-से मन्त्र सिद्ध कर लिये हैं, उसके माहात्म्यका किस प्रकार वर्णन किया जाय? वह तो साक्षात् शिव ही है। एक अक्षरका मन्त्र दस लाख जप करनेसे सिद्ध हो जाता है। मन्त्रमें ज्यों-ज्यों अक्षरकी वृद्धि हो, त्यों-ही-त्यों उसके जपकी संख्यामें कमी होती है। इस नियमसे अन्य मन्त्रोंके जपकी संख्याके विषयमें स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिये। बीज-मन्त्रकी अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी संख्यामें मालामन्त्रोंके जपका विधान है। जहाँ जपकी संख्या नहीं बतायी गयी हो, वहाँ मन्त्र-जपादिके लिये एक सौ आठ या एक हजार आठ संख्या जाननी चाहिये। सर्वत्र जपसे दशांश हवन एवं तर्पणका विधान मिलता है॥ १६—२५॥

जहाँ किसी द्रव्य-विशेषका उल्लेख न हो, वहाँ होममें घृतका उपयोग करना चाहिये। जो आर्थिक दृष्टिसे असमर्थ हो, उसके लिये होमके निमित्त जपकी संख्यासे दशांश जपका ही सर्वत्र विधान मिलता है। अङ्ग आदिके लिये भी जप आदिका विधान है। सशक्ति-मन्त्रके जपसे मन्त्रदेवता साधकको अभीष्ट फल देते हैं। वे साधकके द्वारा किये गये ध्यान, होम और अर्चन आदिसे तृप्त होते हैं। उच्चस्वरसे जपकी अपेक्षा उपांशु (मन्दस्वरसे किया गया) जप दसगुना श्रेष्ठ कहा गया है। यदि केवल जिह्वा हिलाकर जप किया जाय तो वह सौ गुना उत्तम माना गया है। मानस (मनके द्वारा किये जानेवाले) जपका महत्त्व सहस्रगुना उत्तम कहा गया है। मन्त्र-सम्बन्धी कर्मका सम्पादन पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख होकर करना चाहिये। मौन होकर विहित आहार ग्रहण करते हुए प्रणव आदि सभी मन्त्रोंका जप करना चाहिये। देवता तथा आचार्यके प्रति समान दृष्टि रखते हुए आसनपर बैठकर मन्त्रका जप करे। कुटी, एकान्त एवं पवित्र स्थान, देवमन्दिर, नदी अथवा जलाशय—ये जप करनेके लिये उत्तम देश हैं। मन्त्र-सिद्धिके लिये जौकी लप्सी, मालपूए, दुग्ध एवं हविष्यान्नका भोजन करे। साधक मन्त्रदेवताका उनकी तिथि, वार, कृष्णपक्षकी अष्टमी-चतुर्दशी तथा ग्रहण आदि पर्वोंपर पूजन करे। अश्विनीकुमार, यमराज, अग्नि, धाता, चन्द्रमा, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, पितर, भग, अर्यमा, सूर्य, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, जल, निर्ऋति, विश्वेदेव, विष्णु, वसुगण, वरुण, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य और पूषा—ये क्रमशः अश्विनी आदि नक्षत्रोंके देवता हैं। प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीपर्यन्त तिथियोंके देवता क्रमशः निम्नलिखित हैं—अग्नि, ब्रह्मा, पार्वती, गणेश, नाग, स्कन्द, सूर्य, महेश, दुर्गा, यम, विश्वदेव, विष्णु, कामदेव और ईश, पूर्णिमाके चन्द्रमा और अमावस्याके देवता पितर हैं। शिव, दुर्गा, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी और कुबेर—ये क्रमशः रविवार आदि वारोंके देवता हैं। अब मैं 'लिपिन्यास'का वर्णन करता हूँ॥ २६—३६ $\frac{1}{2}$॥

साधक निम्नलिखित प्रकारसे लिपि (मातृका) न्यास करे— 'ॐ अं नमः, केशान्तेषु। ॐ आं नमः, मुखे। ॐ इं नमः, दक्षिणनेत्रे। ॐ ईं नमः, वामनेत्रे। ॐ उं नमः, दक्षिणकर्णे। ॐ ऊं नमः, वामकर्णे। ॐ ऋं नमः, दक्षिणनासापुटे। ॐ ॠं नमः, वामनासापुटे। ॐ ऌं नमः, दक्षिणकपोले।

ॐ लृं नमः, वामकपोले। ॐ एं नमः, ऊर्ध्वोष्ठे। ॐ ऐं नमः, अधरोष्ठे। ॐ ओं नमः, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः, अधोदन्तपङ्क्तौ। ॐ अं नमः, मूर्ध्नि। ॐ अः नमः, मुखवृत्ते। ॐ कं नमः, दक्षिणबाहुमूले। ॐ खं नमः, दक्षिणकूर्परे। ॐ गं नमः, दक्षिणमणिबन्धे। ॐ घं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः, दक्षिणहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः, वामबाहुमूले। ॐ छं नमः, वामकूर्परे। ॐ जं नमः, वाममणिबन्धे। ॐ झं नमः, वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः, वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः, दक्षिणपादमूले। ॐ ठं नमः, दक्षिणजानुनि। ॐ डं नमः, दक्षिणगुल्फे। ॐ ढं नमः, दक्षिणपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः, दक्षिणपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ तं नमः, वामपादमूले। ॐ थं नमः, वामजानुनि। ॐ दं नमः, वामगुल्फे। ॐ धं नमः, वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः, दक्षिणपार्श्वे। ॐ फं नमः, वामपार्श्वे। ॐ बं नमः, पृष्ठे। ॐ भं नमः, नाभौ। ॐ मं नमः, उदरे। ॐ यं त्वगात्मने नमः, हृदि। ॐ रं असृगात्मने नमः, दक्षांसे। ॐ लं मांसात्मने नमः, ककुदि। ॐ वं मेदात्मने नमः, वामांसे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः, हृदयादि-दक्षहस्तान्तम्। ॐ षं मज्जात्मने नमः, हृदयादि-वामहस्तान्तम्। ॐ सं शुक्रात्मने नमः, हृदयादि-दक्षपादान्तम्। ॐ हं आत्मने नमः, हृदयादि-वामपादान्तम्। ॐ लं परमात्मने नमः, जठरे। ॐ क्षं प्राणात्मने नमः, मुखे।' इस प्रकार आदिमें 'प्रणव' और अन्तमें 'नमः' पद जोड़कर लिपीश्वरों—मातृकेश्वरोंका न्यास किया जाता है॥ ३७—४०॥

श्रीकण्ठ, अनन्त, सूक्ष्म, त्रिमूर्ति, अमरेश्वर, अर्घीश, भारभूति, तिथीश, स्थाणुक, हर, झिण्टीश, भौतिक, सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, अक्रूर तथा महासेन—ये सोलह 'स्वर-मूर्तिदेवता' हैं। क्रोधीश, चण्डीश, पञ्चान्तक, शिवोत्तम, एकरुद्र, कूर्म, एकनेत्र, चतुरानन, अजेश, सर्वेश, सोमेश, लाङ्गलि, दारुक, अर्द्धनारीश्वर, उमाकान्त, आषाढी, दण्डी अद्रि, मीन, मेष, लोहित, शिखी, छगलाण्ड, द्विरण्ड, महाकाल, कपाली, भुजङ्गेश, पिनाकी, खड्गीश, बक, श्वेत, भृगु, नकुली, शिव तथा संवर्तक—ये 'व्यञ्जन-मूर्तिदेवता' माने गये हैं॥ ४१—४६॥

उपर्युक्त श्रीकण्ठ आदि रुद्रोंका उनकी शक्तियोंसहित क्रमशः न्यास करे। (श्रीविद्यार्णव-तन्त्रमें इनकी शक्तियोंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—पूर्णोदरी, विरजा, शाल्मली, लोलाक्षी, वर्तुलाक्षी, दीर्घघोणा, सुदीर्घमुखी, गोमुखी, दीर्घजिह्वा, कुण्डोदरी, ऊर्ध्वकेशी, विकृतमुखी, ज्वालामुखी, उल्कामुखी, श्रीमुखी तथा विद्यामुखी—ये रुद्रोंकी 'स्वर-शक्तियाँ' हैं। महाकाली, महासरस्वती, सर्वसिद्धि, गौरी, त्रैलोक्यविद्या, मन्त्रशक्ति, आत्मशक्ति, भूतमाता, लम्बोदरी, द्राविणी, नागरी, खेचरी, मञ्जरी, रूपिणी, वीरिणी, काकोदरी, पूतना भद्रकाली, योगिनी, शङ्खिनी, गर्जिनी, कालरात्रि, कूर्दिनी, कपर्दिनी, वज्रिका, जया, सुमुखी, रेवती, माधवी, वारुणी, वायवी, रक्षोविदारिणी, सहजा, लक्ष्मी, व्यापिनी और महामाया—ये 'व्यञ्जनस्वरूपा रुद्रशक्तियाँ' कही गयी हैं।)

इनके न्यासकी विधि इस प्रकार है—'**हसौं अं श्रीकण्ठाय पूर्णोदर्यै नमः। हसौं आं अनन्ताय विरजायै नमः।**' इत्यादि। इसी तरह अन्य स्वरशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। व्यञ्जन-शक्तियोंके न्यासके लिये यही विधि है। यथा—'**हसौं कं क्रोधीशाय महाकाल्यै नमः। हसौं खं चण्डीशाय महासरस्वत्यै नमः।**' इत्यादि। साधकको चाहिये कि उदयादि अङ्गोंका भी न्यास करे; क्योंकि सम्पूर्ण मन्त्र साङ्ग होनेपर ही सिद्धिदायक होते हैं। हल्लेखाको व्योम-बीजसे युक्त करके इन अङ्गोंका न्यास करना चाहिये। हृदयादि अङ्ग मन्त्रोंको अन्तमें

जोड़कर बोलना चाहिये। यथा—'**ह्रां हृदयाय नमः। ह्रीं शिरसे स्वाहा। ह्रूं शिखायै वषट्। ह्रैं कवचाय हुम्। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः अस्त्राय फट्।**' यह 'षडङ्गन्यास' कहा गया है। पञ्चाङ्गन्यासमें नेत्रको छोड़ दिया जाता है। निरङ्ग-मन्त्रका उसके स्वरूपसे ही अङ्गन्यास करके क्रमशः वागीश्वरी देवी (ह्रीं)-का एक लाख जप करे तथा यथोक्त (दशांश) तिलोंकी आहुति दे। लिपियोंकी अधिष्ठात्री देवी वागीश्वरी अपने चार हाथोंमें अक्षमाला, कलश, पुस्तक और कमल धारण करती हैं। कवित्व आदिकी शक्ति प्रदान करती हैं। इसलिये जपकर्मके आदिमें सिद्धिके लिये उनका न्यास करे। इससे अकवि भी निर्मल कवि होता है। मातृका-न्याससे सभी मन्त्र सिद्ध होते हैं॥ ४७—५१॥

इस प्रकार आदि आग्नेय महापुराणमें 'मन्त्र-परिभाषाका वर्णन' नामक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९३॥

दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय

नाग-लक्षण*

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! अब मैं नागोंकी उत्पत्ति, सर्पदंशमें अशुभ नक्षत्र आदि, सर्पदंशके विविध भेद, दंशके स्थान, मर्मस्थल, सूतक और सर्पदष्ट मनुष्यकी चेष्टा—इन सात लक्षणोंको

* अग्निपुराणमें जिस धन्वन्तरि-सुश्रुत-संवादद्वारा आयुर्वेदका प्रतिपादन किया गया है, वही विस्तारपूर्वक 'सुश्रुत' ग्रन्थमें वर्णित है। सर्पोंके सम्बन्धमें 'सुश्रुत' ग्रन्थमें (पू० तन्त्र, कल्पस्थान, अध्याय ४ में) जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—सर्प दो प्रकारके होते हैं—'दिव्य' और 'भौम'। दिव्य सर्प वासुकि और तक्षक आदि हैं। वे इस पृथ्वीका बोझ उठानेवाले हैं; प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे कुपित हो जायँ तो फुफकार और दृष्टिमात्रसे सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध कर सकते हैं। वे सदा नमस्कारके ही योग्य हैं। उनके डसनेकी कोई दवा नहीं है। चिकित्सासे उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

परंतु जो भूमिपर उत्पन्न होनेवाले सर्प हैं, जिनकी दाढ़ोंमें विष होता है तथा जो मनुष्योंको काटते हैं, उनकी संख्या अस्सी है। उन सबके पाँच भेद हैं—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज। राजिमान्‌को ही अग्निपुराणमें 'राजिल' कहा गया है। इनमें 'दर्वीकर' छब्बीस, 'मण्डली' बाईस, 'राजिमान्' (या राजिल) दस, 'निर्विष' बारह तथा 'वैकरञ्ज' तीन प्रकारके होते हैं। वैकरञ्जोंद्वारा मण्डली तथा राजिलके संयोगसे उत्पन्न चित्रित सर्प सात प्रकारके माने गये हैं। मण्डलीके संयोगसे उत्पन्न चार और राजिलके संयोगसे उत्पन्न तीन। इस तरह इनके अस्सी प्रकार हुए।

दर्वीकर सर्प चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अङ्कुशका चिह्न धारण करनेवाले, फणयुक्त तथा शीघ्रगामी होते हैं। मण्डली सर्प विविध मण्डलोंसे चित्रित, मोटे तथा मन्दगामी हुआ करते हैं। वे अग्नि तथा सूर्यके तुल्य तेजस्वी जान पड़ते हैं। राजिमान् अथवा राजिल सर्प चिकने होते हैं। वे तिरछी, ऊर्ध्वगामिनी एवं बहुरंगी रेखाओंद्वारा चित्रित-से जान पड़ते हैं। चरकने भी इन सर्पोंके विषयमें ऐसा ही, किंतु संक्षिप्त विवरण दिया है—

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पतङ्गः स्यात्तु राजिमान्॥

'फणवाले (दर्वीकर) सर्प वायुको प्रकुपित करते हैं। मण्डली सर्पोंके दंशनसे पित्तका प्रकोप बढ़ता है तथा राजिमान् सर्प कफ-प्रकोपको बढ़ानेवाले होते हैं।' (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। २९)

'राजिमान् सर्प रातके पिछले पहरमें, मण्डली सर्प रातके शेष तीन पहरोंमें और दर्वीकर सर्प दिनमें चरते और विचरते हैं।'

(सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, कल्पस्थान ४। ३१)

'दर्वीकर सर्प तरुणावस्थामें, मण्डली वृद्धावस्थामें और राजिमान् सर्प मध्यवयमें उग्र विषवाले होकर लोगोंकी मृत्युके कारण बनते हैं। (सुश्रुत ४। ३२) मण्डली सर्पोंको गोनस भी कहते हैं।'

'सुश्रुत-संहिता'की 'आयुर्वेद-तत्त्व-संदीपिका' व्याख्यामें सर्पोंका वर्गीकरण इस प्रकार दिया गया है—